उस समय प्रतीत होता है और दूसरी ओर यही चेतना उसे स्वयं अपनी चेतना में परिवर्तन करने के लिए भी प्रवृत्त करती है। लेकिन यह बात जो सहज रूप में सभी को सदैव अनुभूत होती रहती है दार्शनिक विचार का केन्द्र-बिन्दु नहीं बनती है, क्योंकि दार्शनिक चिन्तन यह मान ही नहीं सकता कि 'सत्' का स्वरूप कभी ऐसा भी हो सकता है कि वह स्वयं अपने आप में और जो कुछ भी अन्य है उसमें परिवर्तन लाने की सतत् चेष्टा करता रहे। अद्वैत चिन्तन इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है। वैसे यह बात अन्य दार्शनिक परम्पराओं में भी सहज रूप में प्राप्त होती है। अद्वैत दर्शन इस सत्य को इसीलिए स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि इसमें जो 'है' और जो 'होना चाहिए' उसमें सदैव 'भेद' रहता है। वास्तव में देखें तो दार्शनिक दृष्टि न कर्म को समझ सकती है न काल को, न परिवर्तन को, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि इनको अपनी 'समझ' से बाहर पाती है। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि वह फिर भी श्रेय की बात करती है, प्रेय और श्रेय में भेद करती है, पुरुषार्थ की बात करती है, साधन और साध्य का भेद करती है। ये सब भेद मनुष्य के मूल में उपस्थित हैं और मनुष्य की सत्ता को एक प्रकार से परिभाषित करते हैं। जब तक मनुष्य की बुद्धि मनुष्य के इस सत् को स्वीकार नहीं करेगी तब तक वह मनुष्य को समझने में असमर्थ रहेगी।

दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने मनुष्य को उस प्रकार से देखा ही नहीं जिस प्रकार वह है। उसके लिए मनुष्य न पैदा होता है न मरता है, न कभी वह बालक था, न युवा और न वृद्ध। यही नहीं, इसमें लिंग-भेद को भी वह अस्वीकार करता है : उसके लिए न कोई स्त्री है न पुरुष, न युवती है न युवक और वह कभी प्रेम की बात करता है तो सिर्फ भगवान् से। बीमारी और पागलपन तो उसने शायद कभी देखे ही नहीं हैं और न उसने कभी चूल्हे-चौके की बात की है न झाड़ू-पौछे की। कहने का मतलब यह है कि दर्शन के नाम पर जो हज़ारों साल से चिन्तन हुआ है उसका आदमी से कोई लेना-देना नहीं है। शायद मनुष्य ने दार्शनिक चिन्तन को इसीलिए जगह दी है कि वह उसे अपने वास्तविक जीवन से कुछ क्षण के लिए दूर ले जा कर किसी ऐसे कल्पित सत्य में 'रहने की' सुविधा दे। यह बात दूसरी है कि वहाँ रहना कुछ क्षणों के लिए ही हो सकता है। उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता भी यह सब करते हैं। दार्शनिक शायद उसी बात को बुद्धि का जामा पहना कर मनुष्य को उस माया लोक में ले जाता है जहाँ उसके अनुसार चरम सत्य के दर्शन होते हैं—अनित्यता से नित्यता की ओर, दुःख भरे संसार से शाश्वत आनन्द की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर। इससे बड़ा 'छलावा' क्या हो सकता है? वैसे क्या भगवान् ने स्वयं यह नहीं कहा था 'द्यूतं छलवतामस्मि'? और दर्शन से बड़ा 'जुए का खेल' और क्या हो सकता है?

❑

कर्म की चर्चा : नयी, पुरानी और इनसे भी अलग कुछ और

कर्म की बात करते ही पहला सवाल जो मन में उठता है वो यह है कि आखिर कर्म क्या है? क्रिया मात्र तो कर्म नहीं है, और क्या जानवरों में कर्म की बात की जा सकती है? जहाँ तक पेड-पौधों का सवाल है उनके बारे में कर्म की बात कोई करता ही नहीं, हालांकि पौधे स्वयं ही बड़े होते हैं और ज़मीन, धूप और पानी से अपने को पालते-पोसते, बड़ा करते हैं। उनकी भी ज़िन्दगी होती है, जीवन और मृत्यु उनके साथ भी लगी होती है और वे भी खिलते और मुरझाते रहते हैं।

कहने का अर्थ यह है कि जहाँ भी 'प्राण' है वहाँ कुछ ऐसा दिखाई देता है, जो कुछ भी प्राणवान् है, वह अपने को बचाये रखने की कोशिश ही नहीं करता, बल्कि उसे कुछ आगे बढ़ाने की, बड़ा होने की, कुछ और अच्छा होने की कोशिश भी उसमें दिखाई देती है।

लेकिन यह सब होते हुये भी हम वहाँ कर्म की बात नहीं करते, क्योंकि एक तरह से जो कुछ जानवर में पाया जाता है, या पेड-पौधों में भी, वो सब आदमी में भी मिलता है। लेकिन आदमी में उससे कुछ और ज़्यादा मिलता दिखाई देता है। और मनुष्य के सम्बन्ध में कर्म की बात उसी के बारे में की जाती है। लेकिन आदमी में वह क्या है जिसके सम्बन्ध में कर्म की बात होती है। आदमी एक ऐसा अजीब प्राणी है जो हमेशा जानने की कोशिश में लगा रहता है, ज्ञान-अर्जन करने की, ये पता लगाने की कि आखिर ये सब क्या है, जो होता है क्यों होता है। लेकिन इसकी तो शायद ही कभी कर्म के सम्बन्ध में चर्चा की जाती है। ज्ञान-अर्जन की प्रक्रिया को कर्म क्यों नहीं कहा जाता। यही नहीं, आदमी और बहुत कुछ करता है जिसको भी कर्म की चर्चा करते वक्त एक ओर रख दिया जाता है, आदमी गाता है, नाचता है, तस्वीर बनाता है और पता नहीं क्या-क्या करता है उन सबको कर्म नहीं कहते। लिखने-पढने के काम को शायद ही किसी ने काम समझा हो, और जिसे कभी 'कर्म' उस अर्थ में जो इसे वेदों में 'कर्म' की संज्ञा दी गयी थी, उसको क्या कभी कर्म माना गया है। यही बात उस कर्म के चिन्तन के बारे में भी सच है जिसे वेद में 'मनीषी' कहकर इंगित किया गया है।

अब, भला बताइये, कि आदमी करता तो ये सब कुछ है और यही शायद उसका विशिष्ट लक्षण है, फिर इन सबको कर्म की संज्ञा किसी ने क्यों नहीं दी, और भारतीय परम्परा के बारे में बात करें तो 'ध्यान', 'धारणा', 'उपासना' को कर्म किसने माना है। पर अगर ये सब कर्म नहीं हैं तो कर्म क्या है। क्या कर्म वही है जो राजनीति के क्षेत्र में व्यक्त होता है या बाज़ार में, खरीदने-बेचने में, या वह जिसके द्वारा कुम्हार हो या लुहार, बढ़ई हो या जुलाहा, किसान हो या चरवाहा, कुछ बनाते हैं, बुनते हैं, पैदा करते हैं, बाज़ार में लाते हैं और ज़िन्दगी को ज़िन्दा रहने में मदद करते हैं।

एक तरह से ये सभी 'कर्म' के रूप हैं और जब तक इनको एक साथ एक सूत्र में बाँधकर देखा नहीं जायेगा हम मनुष्य के कर्म को नहीं समझ पायेंगे। इन सब कर्म के क्षेत्रों का आपस में संबंध है और आदमी ही इनमें प्रवृत्त होता है। अब सवाल यह उठता है कि इस प्रवृत्त होने का क्या अर्थ है? और उसकी 'वृत्ति' क्या है और क्या उसमें कुछ आंतरिक भेद हैं जिनकी ओर ध्यान दिये बगैर कर्म को समझा ही नहीं जा सकता। भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो मूलभूत भेद किया है वह प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच में है, लेकिन ये भेद उतना मूलभूत नहीं है जितना परम्परा में सोचा गया है। इसके पीछे भी भेद उस चेतना में है जो कर्म के किसी रूप में भी, वह चाहे प्रवृत्ति हो या निवृत्ति, उसे 'रूपायित' करने की चेष्टा करती है जो एक ओर उसे बाहर से देखने वाले को दिखता हुआ बनता है, और दूसरी ओर उसे उस सच्चाई की ओर देखने को मज़बूर करती है जो उसकी अपनी चेतना में उसे प्रतिबिम्बित दिखाई देती है। प्रवृत्ति हो या निवृत्ति, दोनों में बेईमानी हो सकती है और आदमी के कर्म की समस्या यही है कि उसमें कितनी ईमानदारी है। इस ईमानदारी को बताना या इसको नापना या इसको मापना-तौलना असंभव है। क्योंकि आदमी खुद नहीं जानता कि वह कितनी ईमानदारी से काम करता है, लेकिन हाँ वो इतना ज़रूर जानता है कि वो ईमानदारी से काम करने की कोशिश कर रहा है या नहीं।

कर्म को समझने के लिये, इस बात को समझना ज़रूरी है कि आखिर ईमानदारी से काम करने की कोशिश करने का मतलब क्या है? इसका एक मतलब तब साफ़ नज़र आता है जब आदमी किसी दूसरे के सम्बन्ध में काम करता है। शायद सब से अजीब बात यह है कि आदमी का कर्म हमेशा किसी 'अन्य' से सम्बन्धित होता है और यही नहीं, बहुत बार तो दूसरों के साथ मिलकर ही काम किया जा सकता है। ''साथ मिलकर काम करना'' और 'अन्य' के प्रति कर्म करना अगर मनुष्य के कर्म का अनिवार्य अंग है तो फिर कर्म को समझने के लिये ये समझना ज़रूरी है कि 'अन्य' क्या है और उसके साथ मिल-जुलकर काम करने का क्या मतलब है।

'अन्य' आम तौर पर कोई दूसरा आदमी होता है अपनी ही तरह का और वह भी कर्म का उतना ही महत्वपूर्ण केन्द्र है जैसा कोई स्वयं। यह ठीक है कि 'अन्य' दूसरे प्राणी भी हो सकते हैं लेकिन आदमी के 'दूसरे' होने में गहरा फर्क है। यही नहीं, अन्य कुछ भी हो सकता है जैसे पहाड़, ज़मीन, आसमान और इसी तरह की चीज़ें जिनसे भी आदमी का रिश्ता होता है, ये भी मनुष्य के कर्म के 'विषय' बनते हैं। कुछ-कुछ उसी प्रकार जैसे वो चीज़ें जो आदमी बनाता है फिर चाहे वो वैसी हों जिन्हें कलाकृति कहते हैं या वो जिन्हें हम आम रोज़मर्रा की इस्तेमाल की चीज़ें कहते हैं।

पर, जब आदमी के कर्म का सम्बन्ध किसी दूसरे आदमी या आदमियों से होता है तब उसमें एक ऐसा मूलभूत परिवर्तन आता है जिसको कुछ लोगों ने 'परस्पर-भाव' कहकर व्यक्त करने की कोशिश की है। लेकिन यह सम्बन्ध अधिकतर परस्पर न होकर कुछ उस तरीके का होता है जहाँ परस्पर-भाव का होना अधिकाधिक कठिन होता जाता है। ऊँच-नीच की बात, बड़े-छोटे की बात, अधिक-कम की बात ज़्यादा होती है। 'परस्परता' का सम्बन्ध तो शायद ही कभी मिलता हो। हाँ, दोस्ती और प्यार में यह बात ज़रूर सामने आती है। और, शायद यही वज़ह है कि इन रिश्तों की टकराहट उन सब दूसरे रिश्तों से होती है जहाँ परस्परता का भाव शायद हो ही नहीं सकता।

कर्म के सम्बन्ध में जो चिन्तन किया गया है, उसमें इस टकराहट की ओर कम ही ध्यान दिया गया है। राज्य, प्रशासन, और समाज की संरचना में जितने भी सम्बन्ध होते हैं उनका 'परस्पर' होना नामुमकिन ही होता है। और अगर ऐसा है तो फिर इन क्षेत्रों के सामने दोस्ती, प्यार, मोहब्बत कितनी देर आपसी परस्परता लिये हुये चल पायेंगी। कृष्ण-सुदामा की दोस्ती मशहूर ज़रूर है पर क्या वह वास्तव में दोस्ती थी, और थी भी तो चल कैसे सकती थी। राधा और गोपियाँ वृन्दावन में ही रहीं, वे चाहतीं भी तो द्वारिका में कृष्ण उनका क्या करते। द्रोण और द्रुपद की कहानी सबको याद है, राजा और मामूली आदमी में न दोस्ती चल सकती है और न प्यार।

फिर भी आदमी का मन नहीं मानता, और वह ऐसे समाज और राज्य की कल्पना करता है जहाँ बराबरी हो, सबके बीच दोस्ती और प्यार का रिश्ता हो सके या कम से कम असमानतायें जितनी कम हो सकें उतनी कम हों। यह बात काफी हद तक मनुष्य ने, कम से कम पिछली कुछ सदियों में, चरितार्थ करने की कोशिश की है। लेकिन राज्यों के बीच जो सम्बन्ध होते हैं उनमें बराबरी की बात शायद ही किसी ने की हो। और आखिर राज्यों के बीच बराबरी का मतलब क्या होता है। वहाँ बराबरी तभी हो सकती है जब राज्यों की स्वायत्ता और प्रभुसत्ता पर अंकुश लगाया जाये और किसी ऐसे संस्थान की कल्पना की जाये जो सबको मान्य हो और जो अपनी बात मनवाने में थोडा सक्षम भी हो। बीसवीं सदी में इस

ओर कुछ प्रयास भी किये गये थे जिनमें पहले महायुद्ध के बाद लीग ऑफ नेशन्स को बनाने की कोशिश हुई थी। और दूसरे महायुद्ध के बाद जिसे यूनाइटेड नेशन्स कहते हैं या संयुक्त राष्ट्र संघ कहते हैं। लेकिन ये प्रयास कितने सफल हुये हैं इसका इतिहास ही गवाह है। लीग ऑफ नेशन्स दूसरे महायुद्ध को नहीं रोक सकी और न ही संयुक्त राष्ट्र इराक पर अमेरिका के हमलों को।

कर्म के सम्बन्ध में चिन्तन में इस सब की सार्थकता क्या है, इस सवाल का जवाब यही है कि मनुष्य ही लड़ाई करता है और सुलह भी, राज्य भी बनाता है और समाज और संस्कृति भी; यही नहीं, प्यार भी करता है और दोस्ती भी। आखिर तो आदमी ही सब कुछ करता है, और अगर ऐसा है तो कर्म की बात करते समय किसी भी पक्ष को अपने चिन्तन से क्या कोई अछूता रख सकता है। आँख बंद करने से चित्त की शान्ति मिले ऐसा हो सकता है पर विचार को ईमानदारी व जिम्मेदारी भी मिले, यह मानना मुश्किल है।

राज्य की बात करते ही, कर्म का एक वह पक्ष उभरता है जिसके बारे में अधिक विचार नहीं किया गया है। कर्म को अक्सर व्यक्ति के संदर्भ में ही देखा गया है और उसे व्यक्ति-केन्द्रित ही माना गया है, लेकिन जब कोई मनुष्य 'राजपुरुष' के रूप में व्यवहार करता है तो वह व्यक्ति के रूप में कर्म नहीं करता, वह तो राजा का कर्मचारी होता है और इस तरह राज्य के प्रतिनिधि के रूप में काम करता है। उसका कर्म वैयक्तिक न होकर किसी दूसरे के दिये हुये उत्तरदायित्व के संभालने में और उसके अनुरूप अपने को ढ़ालने में, किसी अन्य के लिये काम करने में ही परिभाषित होता है; उसके कर्म का श्रेय राजा को ही मिलता है या उसे जिसने उसे उस काम के लिये नियुक्त किया है, और उसका 'फल' किन्हीं और को मिलता है। अर्थात् स्वयं को 'फल' नहीं मिलता बल्कि उन लोगों को जिन्होंने उसे उस काम पर लगाया था।

यह बात कुछ-कुछ मीमांसा के उस सवाल से मिलती है जो यज्ञ के संबंध में उठाया गया था। यज्ञ तो किया यजमान के लिये जाता है, लेकिन करते हैं उसे ऋत्विक जिन्हें दक्षिणा देकर यजमान ने अपने लिये यज्ञ करने के लिये बुलाया है। अगर यज्ञ ठीक हुआ है तो उसका फल ऋत्विकों को नहीं, यजमान को मिलता है। यह बात एक तरह से साधारण है लेकिन इसके दूरगामी परिणाम पर किसी ने नहीं सोचा। लड़ते सिपाही हैं, जीत राजा की होती है। काम सैकड़ों, हज़ारों करते हैं पर उसका श्रेय किसी और को मिलता है। यह सब उस कर्म के सिद्धान्त के विपरीत है जो यह मानता है कि ''जो करेगा वही भरेगा।'' हम अपने किए का फल दूसरे को देते हैं, श्राद्ध करते हैं और उसका फल पितरों को मिलता है। इसी तरह ऐसी तरह की बहुत कहानियाँ हैं जहाँ आदमी संकल्प करके अपने किए का फल दूसरे को देता है और यही नहीं, पण्डित को पैसे देकर अपने लिये जप करवा सकते हैं, फिर भी कर्म की बात करते समय हम सब इसको भूल जाते हैं।

परन्तु, परम्परा ने राज्य-कर्म के सम्बन्ध में इस पर ध्यान दिया था और विचार किया था। उस विचार का निष्कर्ष यह था कि प्रजा और राजा कर्म के सहभागी हैं। प्रजा के पुण्य और पाप का 1/4 या 1/6 हिस्सा राजा को मिलता है क्योंकि अगर राज्य अच्छा है तो राज्य में रहने वाले व्यक्तियों के लिये शुभ कर्म करना आसान होता है, और अगर ऐसा नहीं है तो वह अधिकाधिक दुष्कर हो जाता है। इस बात के पीछे मान्यता यह है कि राजा तो अपना कर्म करता नहीं, वह जो कर्म करता है दूसरे के लिये करता है और इसलिये स्वयं के कर्म का फल नहीं होता; जो उसके कर्म के आधार पर दूसरे कर्म करते हैं उनके फल का भागी बनता है।

इस मान्यता के पीछे जो विचार है, उसकी ओर अगर हम ध्यान दें तो कर्म के सम्बन्ध में एक नये चिन्तन की दिशा मिल सकती है। कर्म हम अधिकतर दूसरे के लिये करते हैं, अपने लिये नहीं। ये दूसरी बात है कि उस कर्म का कुछ-न-कुछ असर हम पर भी होता है। कर्म की इन दो दिशाओं पर अगर ध्यान दें तो ऐसा लगेगा कि कर्म एक साथ विभिन्न दिशाओं में फलीभूत होता है। एक बाहर, दूसरा भीतर। दोनों जगह फल अलग-अलग होते हैं। और बाहर की ओर फल कर्म पर निर्भर करता है, जबकि अन्दर की ओर उसका फल हमारी चेतना की वृत्ति से उत्पन्न होता है जिसके द्वारा वो कर्म किया गया था। इसलिये, हमारा कर्म जहाँ एक ओर संसार की रचना करता है वहीं दूसरी ओर हमें भी बनाता है। लेकिन कर्म के बाहरी आयाम इतने विविध हैं कि जब तक उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाये तब तक कर्म को समझा ही नहीं जा सकता। पुरुषार्थ की बात इन दोनों पक्षों को भुला ही नहीं देती बल्कि कर्म के विभिन्न क्षेत्रों पर अधिक ध्यान भी नहीं देती। कर्म का बाह्य पक्ष काल से सम्बन्धित है और काल को कर्म किस प्रकार देखता है उससे कर्म का रूप और उसकी दिशा दोनों प्रभावित होती हैं। हम कर्म का फल कर्म के होते ही चाहते हैं या उस सुदूर भविष्य में जिसके लिये हमने कर्म की केवल प्रथम कड़ी आरंभ की है। कर्म हम जिस दूसरे के लिये करते हैं उसे हम जानते हैं क्या वो हमारे निकट का कोई संबंधी है या अनजान या कोई 'सामान्य' जिसका हमें पता भी नहीं। और फिर कर्म के पीछे जो चेतना है उसकी वृत्ति क्या है वो कर्म को किसी अपने मतलब के लिये देखती है या बगैर ये सोचे कि इससे मुझे क्या नफ़ा-नुकसान होगा। कर्म कर्तव्य की भावना से किया गया है, या सहज भाव से जिसमें ये भी खयाल नहीं है कि वह किसी के भले के लिये किया जा रहा है। राम का आदर्श कोई अच्छा आदर्श नहीं है क्योंकि उसमें कर्म कर्तव्यता की भावना से किया जाता है; इसलिये नहीं कि दूसरे का उससे भला होगा या नहीं। बोधिसत्व के आदर्श में भी एक गहरी कमी ये है कि वह दूसरों के भले के लिये ही काम करता है। और वो भी ये सोचकर उसने इसके लिये निर्वाण तक का त्याग कर दिया है। ये कोई सहज चेतना से किया हुआ कर्म नहीं है। कृष्ण ने निष्काम कर्म की बात की जहाँ चेतना का केन्द्र कर्म न होकर उससे

अपने ऊपर प्रभाव पर है मेरा कर्म मुझे बंधन में न ड़ाले। इसलिये कर्म को इस प्रकार करूँ कि मैं उसके प्रभाव से मुक्त रहूँ फिर चाहे वो बाहर कुछ ही करे। कर्म के बाहरी फल को भुलाया नहीं जा सकता क्योंकि उसका दूसरों पर असर होता है और कर्म इसलिये किया जाता है कि इसका विशिष्ट परिणाम हो। कर्म के इस पक्ष को भुलाकर उस पर चिन्तन किया ही नहीं जा सकता; दूसरी ओर कर्म का स्वयं चेतना पर क्या असर होता है ये उस वृत्ति पर निर्भर करता है जिससे वो कर्म किया जाता है। कर्म के बारे में ये कहना कि वो अपने सुख-दु:ख के लिये किया जाता है बड़ी भूल है। हाँ, दूसरे के सुख-दु:ख की बात हमेशा होती है और होनी भी चाहिये। याज्ञवल्क्य का कथन इससे बिल्कुल उल्टा है और शायद मनुष्य की सहज वृत्ति पर उससे बड़ा लांछन नहीं है।

कर्म पर भारतीय चिन्तन के मूल में ये दृष्टियाँ जो राम, कृष्ण, बोधिसत्व व याज्ञवल्क्य के नाम से जुड़ी हैं, वे कितनी भ्रान्त हैं और उन्होंने कितना नुकसान किया है ये कहना मुश्किल है। यही बात कर्म के उस सिद्धान्त के बारे में है जिसको कर्म सिद्धान्त का नाम दिया है। मेरे किए का फल मैं ही भोगता हूँ दूसरा नहीं। अगर ये सच होता तो न मैं किसी की सहायता करता, न कोई मेरी। मैं भी अकेला होता और वह भी अकेला, इतना अकेला जितना कोई सोच भी नहीं सकता। हम सब उस नदी के द्वीप जैसे-होते जहाँ कोई नदी भी नहीं होती। परन्तु ऐसा नहीं है। हम एक-दूसरे को कर्म से प्रभावित करते हैं। सुख-दुख देते हैं उसके किए के लिये उत्तरदायी होते हैं, सजा भी पाते हैं और प्रशंसा भी, और बहुत से काम तो मिल-जुलकर ही होते हैं अकेला तो कोई कुछ कर भी नहीं सकता। फिर कर्म के बारे में सोचने में हमारी परम्परा ने इतनी गहरी भूल क्यों की, कैसे की और उस भूल के परिणाम क्या हुए, इस पर आज विचार करना ज़रूरी है।

कर्म का अपना एक इतिहास होता है और कर्म पर चिंतन का एक अन्य इतिहास। विभिन्न संस्कृति और सभ्यताओं में कर्म भी हुआ है, और उस पर चिन्तन भी। इसमें भेद का एक मूल कारण तो ये है कि कर्म के किस क्षेत्र को प्राधान्य दिया जाये, आदमी को किस तरह देखा जाये, और फिर इस 'प्राधान्य' और देखने का असर कर्म पर किस प्रकार और कितनी तरह होता है। आखिर जहाँ भी आदमी है वहाँ कर्म तो होता ही है। और उस पर चिन्तन भी। फिर भी संस्कृति और सभ्यताओं में इतना भेद है कि ये विश्वास करना मुश्किल है कि सब जगह, सब काल में एक सा आदमी था। भारतीय कर्म चिन्तन जिस परम्परा से जुड़ा है उसमें राज्य, समाज और व्यवहार यानि कानून के क्षेत्रों पर कोई विशेष बल दिया हो ऐसा नहीं लगता। यही बात श्रम और व्यापार के बारे में भी सच लगती है। खेती हो या वाणिज्य, राज्य हो या साम्राज्य, न्याय हो या आततायी से रक्षा, इन सब के बारे में विशद चर्चा तो है, पर फिर भी न जाने क्यों मनुष्य के इस

रूप पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि वैसा करने पर संस्कृति की मूल दृष्टि को आघात पहुँचता था। मनुष्य को सामाजिक, या राजनैतिक, या आर्थिक प्राणी के रूप में देखना भारतीय चिन्तकों को पसन्द नहीं आया। हाँ, काम के संदर्भ में उन्होंने व्यक्ति-परक चिन्तन ज़रूर किया है और इन सबके अंतर्गत उसे देखा। परन्तु मनुष्य को 'काम' से परिभाषित करना उसके सम्बन्ध में विचार को सुख-दु:ख केन्द्रित बनाना था, और ऐसा करने पर मनुष्य के बारे में विचार 'व्यक्ति-केन्द्रित' हो सकता था और ऐसा हुआ भी, क्योंकि सुख-दु:ख तो व्यक्ति विशेष को ही होता है; अगर जीवन का चरम लक्ष्य दु:ख को हटाना व सुख को पाना है तो फिर मनुष्य पर विचार व्यक्ति से हटकर बाहर जा ही नहीं सकता। हाँ, सुख किससे मिलेगा, कैसे मिलेगा इसके बारे में अनेक भेद हो सकते हैं पर भारतीय मनीषा ने इस पर विचार को जो मोड़ दिया वो अजीब था। अगर सुख किसी अन्य पर आश्रित है तो फिर मेरा सुख पाना मेरे पर नहीं किसी दूसरे पर निर्भर करता है। इसलिये अगर मुझे वास्तव में सुखी होना है तो इस निर्भरता को आत्यन्तिक रूप में हटाना होगा। मुझे अपने पर ही सम्पूर्ण रूप से निर्भर रहना होगा। सबसे अलग, सबसे विलग, केवल अपने पर आश्रित, स्वयं-प्रतिष्ठ, अपने में लीन।

जहाँ जीवन का आदर्श इस प्रकार देखा गया हो वहाँ मनुष्य के कर्म के बारे में चिन्तन कैसा होगा ये आसानी से सोचा जा सकता है, कर्म की प्रवृत्ति बाहर की ओर होती है, स्थिति को बदलने की, उसमें इस प्रकार परिवतर्न लाने की कि वह अधिक अच्छी हो सके। पर अगर हमें दूसरों पर निर्भर ही नहीं होना है तो कर्म की आवश्यकता भी नहीं होगी।

कर्म का अर्थ ही पराश्रित होना है – शरीर पर, इन्द्रियों पर, कार्य-कारण के ज्ञान पर, जो होना चाहिये या जिन्हें मूल्य या श्रेय कहते हैं उन पर, और उन 'दूसरों' पर जो अपने जैसे ही हैं और जिनकी सहायता से ही किसी कर्म के उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है। औचित्य-बोध या मूल्य बदलता रहता है, कार्य-कारण का ज्ञान भी एक सा नहीं रहता और दूसरों का सहयोग भी उनकी इच्छा पर निर्भर करता है। शरीर शिथिल होता है, कर्मेन्द्रियाँ कमजोर पड़ती हैं, प्राण में ऊर्जा, और उत्साह की कमी होती है, और इस सब के कारण कर्म के सम्बन्ध में एक ऐसी पराश्रितता अनुभूत होती है। जिससे आदमी कर्म की ओर उन्मुख होने की बजाय विमुख होना चाहता है। यही नहीं, दूसरों का साथ मिले भी, प्राणों में ऊर्जा और उत्साह हो भी, कर्म सफल भी हो तब भी उसका सफल होना ही नई समस्याओं को जन्म देता है, और एक ऐसी 'निष्फलता' की ओर इंगित करता है जिससे उकता कर या घबराकर मनुष्य कर्म के क्षेत्र को ही छोड देना चाहता है। थोड़ा बहुत कर्म ज़रूर करना पड़ता है शरीर यात्रा के लिये पर वो कोई खास कर्म नहीं है। वो तो जीने की मज़बूरी है वैसे ही जैसे साँस लेना।

लेकिन कर्म के बारे में ही निष्फलता की बात क्यों उठाई जाये? क्या ज़िन्दगी की हर चीज़ के बारे में ये बात नहीं उठाई जा सकती। मनुष्य की कोई भी साधना हो, ज्ञान की या अध्यात्म की, श्रेय की या रस बोध की सबमें सबके साथ एक अजीब निष्फलता बँधी हुई है, क्योंकि मनुष्य का पुरुषार्थ या मनुष्य की खोज उस किसी ऐसी अवस्था की है जो वो कभी प्राप्त कर ही नहीं सकता। उसे अनन्त कहा जा सकता है, पूर्ण कहा जा सकता है, या किसी ही ऐसे अन्य नाम से संकेतित किया जा सकता है, पर बात वही रहती है। इसकी ओर आज के साहित्य में खासकर जो पश्चिम में लिखा गया है उसमें बहुत चर्चा है और इसके पीछे जो वितृष्णा है जो निष्फलता का भाव है, थकान है, वह ज़िन्दगी की जवानी को भुलाकर ही दी गई है। इस बात को भुलाकर कि न बुढ़ापा, न मौत, ज़िन्दगी को समाप्त करती है। ज़िन्दगी किसी एक अकेले आदमी की नहीं होती, वो तो मनुष्य मात्र की सम्पदा है या प्राणी मात्र की, और उसने अथक परिश्रम से, पीढ़ी दर पीढ़ी वो सब अर्जित किया है जिसके आधार पर हम आज इस निष्फलता और निष्क्रियता की बात करते हैं, पुरुषार्थ से मुँह मोडते हैं, और परम्परा से कर्म सन्यास की बात लेते हैं और निवृत्ति की दुहाई देते हैं; मनुष्य के इतिहास के साथ इससे बड़ा विश्वासघात क्या होगा।

ये ठीक है कि थकावट महसूस होती है आदमी हाथ-पाँव हिलाने से भी कतराता है। पर अगर, प्राण रहेगा तो फिर जिजीविषा जागेगी, आँख खुलेगी, क्षितिज पर सूरज दिखाई देगा, आसमान पर चाँद, और प्यार की लालसा, बच्चों की किलकारी, चिड़ियों का चहकना, यानि वो सब कुछ जिसे ज़िन्दगी कहते हैं और अगर कहें इतना भी न हो सके, मृत्यु पास में आये तो भी फिर व्यक्ति की ही मत्यु होगी मनुष्य की नहीं। पुरुषार्थ व्यक्ति साधता है पर उस मनुष्य के संदर्भ में, जो हजारों, लाखों साल से कुछ साधता आया है और उस मनुष्य के लिये जो उसके बाद भी उनको, उस साधना को बढ़ायेगा जिसमें उसने अपना कुछ ध्येय या योगदान दिया हो।

ये ठीक है कि परम्परा में ये कहा गया है कि प्रलय भी होगी, और महाप्रलय भी, आज का विज्ञान भी ये कहता है कि एक दिन तो ऐसा आयेगा जब, कोई मनुष्य न प्राणी, न पृथ्वी, न कुछ और। सब पंच महाभूत अपने-अपने उसमें वापस चले जायेंगे जहाँ से वे आये थे। क्या सृष्टि की इस कहानी के बाद भी मनुष्य के पुरुषार्थ का, उसकी श्रेय साधना का कोई औचित्य रह जाता है। इसका उत्तर ये है कि चाहे पहले कुछ भी हुआ हो बाद में कुछ भी हो, हम जीते तो वर्तमान में ही है और उसी में फूल खिलाते हैं मुस्कुराहट भी और अगर हम ऐसा कर पाते हैं तो कम से कम उस क्षण को सार्थक मानते हैं, महसूस भी करते हैं और खाली हम ही नहीं दूसरे भी।

अनेकान्त : कुछ समस्याएँ

अगर हम ज्ञान की बात को छोडकर ज्ञान के विषय की बात करें और ज्ञान के स्वरूप को उसके विषय के रूप में अनिवार्य रूप से सम्बन्धित देखें तो शायद अनेकान्त का सिद्धान्त जो बात कहने की चेष्टा करता है वह अधिक समझ में आए। साधारणत: ज्ञान का विषय देश और काल में स्थित होता है और जो काल में है उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परन्तु 'ज्ञान' को यह कहता है कि 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है', और इस 'कहने' का काल की सत्ता परिवर्तनशीलता से कोई सम्बन्ध दिखई नहीं देता। यही नहीं, वह तो उस सतत् परिवर्तनशीलता को नकारता दिखाई देता है। उसके लिए तो ऐसा लगता है—सब कुछ चिरंतन है, स्थिर है, कहीं कोई बदलाव गुंजाइश ही नहीं है। जो 'है' सो है, जो 'नहीं' है वह नहीं है। पर अगर काल सत्य है, तो जो 'है', उसका 'नहीं' होना अवश्यम्भावी है; और इसी प्रकार शायद जो 'नहीं है' उसका 'होना'। दूसरी बात उतनी सच नहीं लगती, लेकिन अगर 'नहीं' होने को, 'होने' के सन्दर्भ में देखें तो शायद वह उतनी गलत नहीं लगेगी।

अनेकान्त पर 'स्वतन्त्र' विचार तभी हो सकता है जब उसे उसके इतिहास से 'मुक्त' किया जा सके। उसका इतिहास जैन दर्शन के इतिहास से इस तरह बँधा हुआ है कि उसकी मुक्ति की बात करना उसे उस दार्शनिक चिन्तन से विच्छिन्न करना होगा जो 'जैन' दर्शन के नाम से जाना जाता है।

यह बात एक तरह से समस्त भारतीय चिन्तन पर भी लागू होती है, क्योंकि सभी चिन्तन की परम्परायें सम्प्रदाय-विशेष से अपने को बँधा मानते हैं।

इस सन्दर्भ में दूसरी बात जो ध्यान में रखनी है, वह यह है कि अगर किसी विचार का 'इतिहास' है, तो वह सदा एक-सा रहा है—यह नहीं माना जा सकता। 'अनेकान्त' हो, या छ और, अगर उसका इतिहास है तो यह अनिवार्य रूप से मानना पड़ेगा कि 'कालक्रम' में उस पर जो विचारह आ है उसमें अवश्य